Multidisciplinary International Magazine
(Peer-Reviewed)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
Volume 6, Issue 68, December 2020

JANKRITI जनकृति

बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका
(विशेषज्ञ समीक्षित)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
वर्ष 6, अंक 68, दिसंबर 2020

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से अब तक प्रकाशित नवगीत रचनाओं का अनुशीलन

अशोक कुमार मौर्य
पीएच.डी. शोधार्थी
गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
9125170023
ypiashok@gmail.com

सारांश (Abstract)

नवगीत आधुनिक सन्दर्भ में गीतकाव्य विधा का युग सापेक्ष्य विकास है। इसके माध्यम से हिन्दी काव्य विधा में जिन प्रवृत्तियों का आर्विभाव हुआ, वह युगीन आवश्यकताओं का ही परिणाम है। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जी ने मानव समाज के बदले हुए रागबोध को एक नया स्वर तथा भाव विस्तार दिया। उसका कथ्य यथार्थ लोक है। उसी नए कथ्य शिल्प एवं भावबोध की पहचान हिन्दी काव्य जगत में 1950 से 1960 के बीच बनीं और आधुनिक युगीन परिपेक्ष्य में 'नवगीत' की सार्थक संज्ञा मिली। सातवें, आठवें और नवें दशक में सतत उतरोत्तर विकास किया। बीसवीं सदी के अंत तक नवगीत अधिक सबल, सक्षम तथा व्यक्तित्व की समग्रता लेकर परिपक्व काव्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है।

बीज शब्द (Keywords)

मानवीय प्रवृत्तियाँ, नगरीय जीवन, आर्थिक विषमता, राजनीति, लोकानुभूति, यथार्थवादी सौन्दर्य।

भूमिका (Introduction)

नवगीत युग के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने वाला प्रमाणित काव्य है इसके विकास में युग-परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं। "स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व के वर्षों में कुछ नवगीत लिखे गए उनमें राष्ट्रीयता, भारत की अस्मिता, ग्रामीण

जीवन तथा आंचलिक परिवेश की अभिव्यक्ति विशेष रूप से हुई है।"[1] स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले दशक में हर्षोल्लास के परिणाम स्वरूप आम भारतीय जनता के पास पहुँच कर उसके सुख-दुःख को जानने-समझने तथा ग्रामीण सौन्दर्य में रमने की ललक दृष्टि गोचर हुई। सातवें दशक में चीनी आक्रमण तथा भारत की पराजय राजनीति क्षेत्र में शासन की असफलता ने मोह भंग की स्थिति पैदा कर दी। साथ ही औद्योगीकरण, पूँजीवाद अर्थ-तंत्र के अपवादस्वरूप ग्रामीण संस्कृति का बिखराव, नगरबोधीय औपचारिकता, भीड़-भाड़, कुंठा, अकेलेपन, अजनबीपन जैसे भावबोध को नवगीत में अभिव्यक्ति किया गया है। इस समय विभिन्न नवगीत संकलनों एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जिन नवगीतकारों के नाम उभर कर आए उनमें रामदरश मिश्र, बाल स्वरूप राही, वीरेंद्र मिश्र, शलभश्री रामसिंह, देवेन्द्र कुमार, ओम् प्रभाकर, हरीश भदानी, रमेश रंजक, शेरजंग गर्ग, नईम और माहेश्वर तिवारी प्रमुख हैं। वस्तुतः नवगीत को व्यापक फलक इन्हीं नवगीतकारों ने प्रदान किया। नवगीतों में शिल्प की ताज़गी अपने नवीनतम बिम्बों, आंचलिक अनुभूतियों के साथ नगरबोधीय जीवनानुभवों तक फैलती चली गयी, यही काल 1964 से सन् 1973 तक रहा। सन् 1974 में सम्पूर्ण क्रांति का नारा जब एक आन्दोलन का रूप ग्रहण करने लगा। उस समय देश के अधिकांश लोगों की मानसिकता को एक झटका लगा और देश में नेतृत्व नेतृत्व

परिवर्तन की माँग बड़ी तेजी से बलवती हुई। जिसे दबाने के लिए 1975 में आपातकाल की घोषणा कर दी गयी थी। प्रेस पर सेंसरशिप लगाने से रचनात्मक अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगा। ये जन तांत्रिक मूल्यों का सर्वथा हनन था। साथ ही यह युग, रचनाकारों के लिए चुनौती भरा था। व्यवस्था की ओर से फैलाए गए आतंक और दमन के विरुद्ध विरोधी स्वर का उठना स्वाभाविक ही था। तानाशाही और अफसरशाही के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद करने वाले जिन नवगीतकारों ने इस आन्दोलन के तहत जोखिम उठाए, उन्होंने महत्त्वपूर्ण गीत संग्रह दिए और दो नवगीत संग्रह-'मिट्टी बोलती है' (रमेश रंजक), तथा 'सुबह रक्त पलाश की' (उमाकांत मालवीय) प्रकाश में आए। उसके बाद अनेकानेक संकलन प्रकाशित हुए जिनमें विषम परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार, कुंठा, दहशत, मृत्युभय, एकाकीपन, मूल्यहीनता और निरर्थकताबोध की अभिव्यक्ति प्रभूत मात्रा में हुई। 1990 के बाद भिन्न परिस्थितियाँ दिखाई पड़ती है। आतंकवाद, विभिन्न प्राकृतिक आपदाएं सूखा, बाढ़, भूकम्प, लूट-खसोट, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की प्रपंचकता एवं आर्थिक शोषण आदि विविध विषयवस्तु नवगीत रचनाओं में प्रमुख रूप से दिखाई पड़ता हैं। इसके अतिरिक्त इस दौर के नवगीत में समाज उत्सवधर्मी होने के साथ ही, कई विसंगतियों और त्रासदियों का विश्लेषण भी है। शहरी संत्रास और आम आदमी के दर्द, कुंठा, विफलता, नैराश्य और आगामी कल को नवगीत में पूरी ताजगी के साथ बया करने की कोशिश की है। एक गहन सत्य को परिलक्षित करता है जिसमें बदलाव की बेचैनी के साथ क्रान्ति का ठंडा पड़ता अहसास भी मुख्य है। सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की चक्की में पिसते व्यक्ति की पीड़ा भी मुखरित हुई है। पारिस्थितिक वैषम्य और विडम्बनाओं के शब्द चित्र भी अंकित हैं। पारंपरिक मान्यताओं को नष्ट करने के स्थान पर देश-कालानुरूप अपरिहार्य परिवर्तन करते हुए, लोकोपयोगी और लोकरंजनीय बनाने पर जोर देती हैं। साथ ही बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में लोक संस्कृति और लोक जीवन से जुड़ाव भी नहीं ख़त्म होता।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नवगीत तेजी से बदलती मानवीय प्रवृत्तियों, आस्थाओं और सामाजिक सरोकारों के नवीन खाँचों के बीच सामंजस्य बैठाने की आवश्यकता महसूस करती है। इनमें नवीन बोध और सामाजिक व्यवहार के विविध आयामों को रेखांकित करने की लालसा होने के साथ ही कल्याणकारी नीतियाँ भी हैं। तात्कालिक रूढ़ियों और कुरीतियों के प्रति भी आगाह करते है। इन तमाम सामाजिक समस्याओं के बीच जीवन को बेहतर बनाने की कवायद भी है-

"धार अपनी माँज कर
बारीक करना
तार-सा
निकल जाना है
सुई की नोक के उस पार सा

ज़िन्दगी जी जाएगी
इतना सफ़र करते हुए
रण में बसर करते हुए।"[2]

महानगरीय जीवन के अतियांत्रिक तनाव, अकेलेपन, ऊब तथा अस्तित्ववादी व्यर्थताबोध से उत्पन्न घुटन के साथ अशांति, असुरक्षा और भय भी है। जिसका कारण स्थानीय परिवेश, कुटिलतापूर्ण स्थितियाँ और

तज्जनित समस्याएँ हैं। भूमिहीनता, सामाजिक ऊँच-नीच, आर्थिक शोषण के अतिरिक्त बेगारी एवं बलात्कार आम अपराध है। पहले राजा-महाराजों और सामन्तों का डर था तो अब सफेदपोश अपराधी नेता, अफसर, सपन्न धनाड्यों का, जिनकी पुलिस से सांठ-गाँठ हैं। अतः बेख़ौफ़ घूमते हैं, किन्तु आम-आदमी बेचैन-बदहाल है। इस निकृष्ट अहसास से आहत होकर कुछ लोग इधर-उधर औपचारिकता निभाना आवश्यक समझने लगते हैं। जिससे घर-परिवार की उपेक्षा होती है-

"इनके संग होली
उनके संग दीवानी
बाट देखते सूखी
घर की रंगोली
सब रिश्ते रेत किये
मन कितने पास किये।"[3]

शहरी जिंदगी से वे शीघ्र ही ऊब जाते हैं। वे शहर छोड़कर जाए भी तो कैसे, यहाँ रहना उसकी विवशता है, आखिर वह क्या करे?

"यह शहर वह है कि जिसमें
आदमी को देखकर
आईना चेहरे बदलता है,
बताओ क्या करें?
आदतें मेरी किसी के
होठ की मुस्कान थी,
अब इन्हों से जी दहलता है,

बताओं क्या करें।"[4]

आर्थिक स्वार्थ एवं दिखावा इस हद तक बढ़ चुका है कि कुछ लोग अपने प्रति किये गए मां के त्याग तथा ममता को भी भुला बैठे हैं-

"चला कहीं जाए नहीं
मेहमानों का ध्यान
धीरे धीरे माँ हुई
कोने का सामान।"[5]

आर्थिक शोषण ने सामाजिक स्तर को विसंगतिपूर्ण बनाकर वर्गभेद की खाई को और भी गहरा दिया है। इसके लिए शोषितों को स्वयं जागरूक बनना चाहिए। सुरेश गौतम लिखते हैं-"आर्थिक सन्दर्भों की दृष्टि से नवगीत का कथ्य सर्वहारा वर्ग की त्रासद अनुभूतियों के साथ जुड़ा हुआ है जहाँ उन्हें केवल हताशा-निराशा, दुःख एवं अभाव ही प्राप्त है क्योंकि पूरी शक्ति, उर्जा, सम्पत्ति, एक विशिष्ट वर्ग के हाथों में घिर कर रह गयी है, दूसरा वर्ग जो श्रम के द्वारा सब कुछ निर्माण कर रहा है, जो समाज को सब कुछ दे रहा है, समाज का पूरा ढांचा जिसके परिश्रम की रीढ़ पर खड़ा है, वाह आज भी पूरी तरह से उपेक्षित है।"[6] राजेन्द्र गौतम भी मानते हैं कि उच्च संपन्न वर्ग को

निर्धन असहाय मजदूर वर्ग की जर्जर बदहाली का अहसास नहीं है। वे स्वयं अय्याशी में असीमित धन लुटा सकते हैं, किन्तु गरीबों की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं होती-

"रंग महल में उतरती
तारों की बारात
खाँस-खाँस कर काटती
झोपड़ियाँ जब रात।"[7]

राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति का धरातल बहुत नीचे आ गया है। अवसर, अनैतिकता, दलबंदी, भ्रष्टाचार और सत्ता की छीनाझपटी से जनतांत्रिक राजनीति कलुषित हो गयी है। राजनीति कूटनीति का पर्याय बन चुकी है-

"प्रजातंत्र की द्रौपदी, राजनीति का द्यूत

पौरुष के अपमान की गाथा कहते सूत।"[8]
"कौरवता इस दौर में, इतनी हुई असीम
दु:शासन के सामने, बौने अर्जुन-भीम।"[9]

नवें दशक के उत्तरार्ध में नवगीत रचनाकारों में सामाजिक यथार्थ की विरूपता के चित्र-दर-चित्र मिलते हैं, किन्तु उनकी विशेषता इस बात में है कि कहीं भी गीतात्मक ऋजुता व व्यंग्यभाव को छोड़कर सपाटबयानी और शुष्क कथन के शिकार नहीं होते। इनमें सामाजिक विसंगतियों तथा आर्थिक प्रवंचनाओं के प्रति आक्रोश भी है और विद्रोह का भाव भी, किन्तु वह एक रचनात्मक संयम के साथ-साथ व्यक्त होता है-

"यज्ञों से बेहतर—
युद्धों के द्वार सजे हैं
इनके छोटे राजन हैं तो उनके भी छोटे शकील हैं
भले राम का एक न हो पर रावण के सौ-सौ वकील हैं।"[10]

आर्थिक विषमता वर्तमान समाज की एक त्रासद स्थिति है। इसके सम्बन्ध कई व्यंग्यात्मक नवगीतों की रचना हुई हैं। ऐसे ही एक नवगीत में आनंद तिवारी जी ने अभावग्रत रिक्शेवाले का, बहुत मार्मिक चित्रण किया है-

"ठंडी रातें बर्फ रहीं
सिकुड़ा हुआ शहर है।
लौहपूत रिक्शेवाला वह
फुलगुंटी से ढाँके तन को।
पैर उपनहे फटी बिमाई
बैरागी सा साधे तन को।
सुविधाओं की गठरी बाँधे
रिक्शे पर अफसर है।
शीत-लहर के कोड़े खाकर
रिक्शे को साँसों से खींचे।
'तेज चलो, देरी होती है'

'जी हाँ' कह, करता सिर नीचे।"[11]

आज के समय में उपभोक्तावाद चरम पर है, यही कारण है कि व्यक्तिगत इच्छाएँ एवं संस्कार टीवी के कार्यक्रमों एवं विज्ञापन-संदेशों से परिचालित होते जा रहे हैं। बच्चों पर इसका व्यापक दुर-प्रभाव पड़ रहा हैं। इनसे अपने जीवन को व्याख्यायित एवं परिभाषित करते है। अवनीश सिंह चौहान लिखते है-

बच्चा सीख रहा
टीवी से
अच्छे होते हैं ये दाग
टॉफी, बिस्कुट, पर्क, बबलगम
खिला-खिलाकर मारी भूख
माँ भी समझ
नहीं पाती है
कहाँ हो रही भारी चूक
माँ का नेह
मनाए हट को
लिए कौर में रोटी-साग
बच्चा पहुँच गया कॉलेज में
नेता बना, जमाई धाक
ट्यूशन, बाइक
मोबाइल के
नाम पढ़ाई पूरी ख़ाक
झूट बोलकर
ऐंठ डैड से
खुलता बोतल का है काग।"[12]

नवगीतों में 'प्रकृति' जीवन के उल्लास, सुख, वैभव और हरीतिमा के रूप में ही प्रकट नहीं है बल्कि वह आधुनिक जीवन की आपाधापी, घुटन, टूटन, विसंगति और मूल्यगत ह्रास को भी, अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम बनी है। इसमें

'प्रकृति' सर्जना की अद्भुत शक्ति की पहचान बन कर उभरी है। एक उदाहरण निम्नलिखित है-

लौट आए
गुलमोहर दिन
विहगवत
लौट आए
नभ खुला हों
ज्यों खुला हो-खत किसी का
गूंजता है स्वर

प्रपातों की-हँसी का
दूर तक जैसे
कि कोई
गुनगुनाए
धूप में स्नान करते-पेड़ मैले
वन हुए फिर
ताल झीलों-रूपहले
फूल तन पर
रेशमी उवतन लगाए।"[13]

आधुनिक समय के नवगीतकारों ने प्रेम सम्बन्धों में कम होती पवित्रता, गहराई एवं गरिमा को रेखांकित भी किया हैं। प्रेम की मूलभूत संवेदना एवं संस्कार में गिरावट आयी है। बाजारवाद के फलस्वरूप प्रेम में भी व्यापारिक अनुबंध दिखाई पड़ते हैं। इसलिए प्रेम का एक रूप विलासिता और ऐश-ओ-आराम का साधन बनता है, जिसका उद्देश्य दैहिक जरूरतों को पूरा करना है-

"नेह के नाते बचे
जो देह में खोते गये
हलक तक प्यासे
कि पोखर-कूप के होते गये।"[14]

"नुमाइश में क्या करोगे
दिखोगे कीमत धरोगे
दूसरों की निगाहों के
स्वाद का ही दम भरोगे।"[15]
"फूलों में मन था, थी सुगंध में साँसे
चाँदनी रात अनबुझी ओस की प्यासें
पुरवा भीतर की कसक मसक न पाई
पछुवा मौसम की भरने लगी उसाँसे।"[16]

सभ्य समाज का कुछ हिस्सा सांस्कृतिक परम्परा को तिरस्कृत करने लगा है। जिसके कारण साहित्य के सांस्कृतिक स्रोत अवरुद्ध होने लगे; ऐसी परिस्थिति में सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग नवगीत ने रचनात्मक भूमिका निभाने का प्रयास किया है। सामान्य शिष्टाचार, आदर-सम्मान, अभिवादन का ढंग, पश्चिमी सभ्यता की तर्ज़ पर बदलते जा रहे हैं। इसके प्रति अनकही पीड़ा है-

"हलो-हाय ने हमसे अपने नमस्कार छीने
भाषा-बोली कथाकीर्तन संस्कार छीने।"[17]

ऐसा नहीं ही कि नवगीतकार केवल जीवन के नवीन सौन्दर्यबोध को ही उभारने में लगे रहे। उन्होंने अपनी अन्तरंग अनुभूतियों को भी अभिव्यक्ति प्रदान की। अपनी अंतरंग अनुभूतियों के साथ-साथ, जन मानस की विवशताओं को भी अपने काव्य में स्थान दिया। यहाँ दोनों अभिव्यक्तियाँ इतनी सहजता से मुखर हुई हैं कि दोनों

को अलग कर पाना कठिन हो गया। नवगीतकार जिंदगी को केवल सोचता ही नहीं, भोगता भी है और इस 'भोग' को वह गीतों में अभिव्यक्त करता है। अनुभूति के प्रति ईमानदारी नवगीत को यथार्थ संवेदित युगबोध से संयोजित कर देती है। अतः नवगीत इस बौद्धिक युग में अन्तरंग अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का माध्यम बन गया है-

"लिख सकूँ तो—
प्यार लिखना चाहता हूँ,
ठीक आदमजात सा
बेखौफ़ दिखना चाहता हूँ।
थे कभी जो सत्य, अब केवल कहानी
नर्मदा की धार सी निर्मल रवानी,
पारदर्शी नेह की क्या बात करिए-
किस क़दर बेलौस ये दादा भवानी।
प्यार के हाथों
घटी दर पर बज़ारों,
आज बिकना चाहता हूँ।"[18]

निष्कर्ष (Conclusion)

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में और इसके बाद नवगीत न केवल लोक से संपृक्त रहा बल्कि आधुनिक समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और प्राकृतिक समस्याओं और जटिलताओं का गहरा विश्लेषणात्मक परिलक्षण भी करता हैं। गाँव हो या शहर, दोनों के आपसी सम्बन्ध और इनमें बढ़ती विसंगतियों और विडम्बनाओं व्यक्त करता हैं। भौतिकवादी पूर्णता की असफलता से उपजी नैराश्य और कुंठा को बखूबी चित्रित किया हैं। आम आदमी की निरीहता और पीड़ा को नवगीतकारों ने प्रमुखता से अभिव्यक्त किया हैं। उदात्त पारम्परिक मूल्यों के कम होने और भोगवादी मूल्यों का लगातार बढ़ने चिंता को भी चित्रित किया गया है। वर्गगत और जातिगत वैषम्य की पीड़ा भी यहाँ मुखरित हुई हैं।

संदर्भ (Reference)

1. सिंह, शंभुनाथ. 1999, *नवगीत सप्तक*. जवाहर पब्लिशर्स. दिल्ली, पृ. 20
2. उद्धृत, सिंह, दिनेश, *रण में बसर करते हुए*, http://kavitakosh.org/
3. गौतम, राजेन्द्र. 1998, *बरगद जलते हैं*. अनुराग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 20
4. गौतम, राजेन्द्र. 1998, *बरगद जलते हैं*. अनुराग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 32
5. गौतम, राजेन्द्र. 1998, *बरगद जलते हैं*. अनुराग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 17

6. गौतम, सुरेश. 1997, *काव्य परिदृश्य : अर्धशती,* अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, पृ. 270

7. गौतम, राजेन्द्र. 1998,*बरगद जलते हैं.* अनुराग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 36

8. गौतम, राजेन्द्र. 1998, *बरगद जलते हैं.* अनुराग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 72

9. गौतम, राजेन्द्र. 1998, *बरगद जलते हैं.* अनुराग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 45

10. नईम, 2003, *लिख सकूँ तो,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 62

11. http://sangrahaursankalan.blogspot.in

12. http://sangrahaursankalan.blogspot.in

13 अश्क, इसाक. 1996, *फिर गुलाब चटके,* इलाहाबाद, आशु प्रकाशन, पृ. 37

14 poorvabhas.in/2011/02/blog-post_23.html

15 poorvabhas.in/2011/02/blog-post_23.html

16 poorvabhas.in/2011/02/blog-post_23.html

17 अश्क, इसाक. 1996, *फिर गुलाब चटके,* इलाहाबाद, आशु प्रकाशन, पृ. 92

18 नईम, 2003, *लिख सकूँ तो,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 9